INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF MANAGEMENT SOCIOLOGY & HUMANITIES

ISSN 2277 – 9809 (online)
ISSN 2348 - 9359 (Print)

An Internationally Indexed Peer Reviewed & Refereed Journal

www.IRJMSH.com
www.isarasolutions.com

Published by iSaRa Solutions

लोक-कला एक अध्ययन

शोधार्थी
श्रीमती हेमा एस. त्रिवेदी
चित्रकला विभाग
(दृश्य कला संकाय)
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)

लोक कला हमारे प्रतिदिन के जीवन के विभिन्न रूपों में गुथी है । यह कला शास्त्रीय बंधनों से मुक्त होती है । इसकी ऐतिहासिक कला परम्परा का अपना अलग ही स्वरूप है । लोककला धार्मिक भावनाओं और आध्यात्मिक अनुभवों पर विशेष आधारित है ।[१] इसमें मूल सांस्कृतिक विशेषताओं एवं मौलिक परम्पराओं का परित्याग नहीं किया जाता है, बल्कि नव चेतना का वास इसके अन्त:करण में यथावत् रहता है । लोक मानस सृजन परम्परा एवं संस्कृति की मूल भावनाओं से सदा ओतप्रोत रहा है ।

प्रत्येक त्यौहार का लोककला के रूप में किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है । त्यौहार को कब और क्यों मनाते हैं ? इसकी ऐतिहासिकता का प्रमाण है । प्रत्येक वर्ग की भारतीय नारी त्यौहारों पर व्रत रखती है और कला कृतियों का सृजन करती है । करवा चौथ, अठोई, अष्टमी, दीवाली आदि अवसरों पर घर में परम्परागत लोक कृतियों के दर्शन होते हैं । इन लोक कृतियों के विभिन्न रूप चित्रकला, लोक-साहित्य, लोक संगीत तथा उपयोगी कलाओं में देखने को मिलता है ।

लोककला में जहाँ समाज के अतीत के अनुभव रहते हैं, वहीं वर्तमान का पुट भी दिखाई देता है यह फिर भी युग-युगान्तरों से चली आ रही परम्पराओं के साथ रहती है । इसकी उत्पत्ति ऋतु परिवर्तन के साथ बदलते रहने वाले मनोभावों और उनके प्रति हमारी तीव्र प्रतिक्रियाओं की मूल चेतना से होती है । वर्ष का प्रत्येक ऋतु परिवर्तन, स्त्रियों के भीतर हुई कलात्मकता को उदित करता है जो दैनिक जीवन की नीरसता में सरसता व उल्लास और आनन्द की अनुभूति करता है ।

लोक कलाकार जिस वस्तु को जिस रूप में देखता और अनुभव करता है उस रूप में तो अभिव्यक्त करता ही है साथ ही अपने अनुभव भी जोड़ता जाता है जिससे लोककला सशक्त एवं विकसित होती है । इन दोनों के मेल से ही इतिहास बनता है और परम्परा जीवित रहती है ।

प्रो. एस.के. सरस्वती के अनुसार लोककला जन समुदाय के जीवन में प्रवाहित सहकारी कला है जिसकी जड़ें धरती में मजबूत हैं। यह लोक में प्रचलित रीति–रिवाजों और विश्वासों से संबंधित होती है। इसकी परम्परा रूढिगत होती है।[२]

श्री स्टीवेंस के अनुसार इसका सम्बन्ध आदि युग के मानव के साथ गहरा होता है। सामाजिक व धार्मिक अभिव्यक्तियों से कला का जो रूप मिलता है उसका विकसित रूप ही हमारी आज की लोककला है।

लोक–कला पर आधुनिकता का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसमें केवल लोक जीवन की भावनाओं की अभिव्यक्ति होतो है। भारतीय जीवन में धर्म और आध्यात्म का उच्च स्थान रहा है। रामायण में रामचरित मानस तक और उसके बाद आज तक राम की अनन्त कथा में हजारों लोक–तत्वों का समावेश हुआ है। राम जन–जातियों के उद्धारक के रूप में पूजित है। महाभारत की घटनाओं, कथाओं और मिथकों को लोक की विधाओं ने इस तरह आत्मसात् किया है कि उसके अनेक रूप लोक में प्रचलित हो गये। झाबुआ के पिथौरा, राजस्थान के षड़चित्र, बिहार के मधुबनी चित्र, महाराष्ट्र के वारली चित्र, मालवा के सज्जा (सांझी) आदि लोक शैलियों में सशक्त रूप से अभिव्यक्त को गई है।

अनवरत संघर्षो और परिवर्तनों के पश्चात् भी लोककला में अपने को जीवित रखने की संजीवनी शक्ति है। भारतीय लोककला ने अपने रूप को अखंडित और अक्षुण्ण बनाये रखा। देशकाल परिस्थिति के कारण समाज में अपने परिवर्तन, परिवर्धन और पुर्नसृजन के अवसर आये, फिर भी लोककला नष्ट नहीं हुई अपितु दूनी गति से सशक्त हुई। यह लोककला का स्त्रोत आज तक ईसा पाँच हजार वर्ष पहले से अविच्छिन्न चला आ रहा है।[३]

मनुष्य जन्म से संस्कृति के मूल सिद्धांतों को ग्रहण करता चला आ रहा है। धीरे–धीरे मनुष्य के प्रत्येक क्रिया–कलाप और चिन्तन तथा अभिव्यक्ति पर अमित प्रभाव पड़ा और उसकी परिणति लोककला के विभिन्न रूपों में हुई।

'लोक' हमारे जीवन का महासमुद्र है और उसमें भूत, भविष्य तथा वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है।'लोक' ही राष्ट्र का अमर स्वरूप है।'लोककला' संपूर्ण समाज के मंगल एवं कल्याण का प्रतीक है जिसके बिना जीवन अपूर्ण और अधूरा है।

लोक कला वास्तव में विकसित लोक संस्कृति पर आश्रित है। संस्कार परम्परागत होकर भी रूढि का पर्याय नहीं है। लोककला संस्कारों के साथ–साथ विकसित होती रहती है और गतिशील तथा वृद्धिशील होकर प्रसार की ओर अग्रसर रहती है। कला का स्त्रोत मानव मन में निहित आनन्द की भावना है, जो कि एक व्यक्ति के मानस की न होकर समग्र समाज की मंगल की कामना लिये हुए है। लोककला एक नैसर्गिक सत्य से जन्म लेती है। यह आदिम युग के

गुहा–मानव से लेकर आज के विकसित मानव जीवन की प्रेम एवं मंगल भावना की अभिव्यक्ति है ।

'लोक' में काल समाया हुआ है इसका निर्धारण समय की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता है । यह समय के साथ–साथ बहने वाली अनवरत जलधारा है, जिसमें सभी संस्कृतियों एवं संस्कारों के नद प्रवाह समय के साथ मिलकर उसे बलवती बनाते रहते हैं ।

गाँवों में नगर की अपेक्षा परिवर्तन कम होता है । लोककला भावों की एक धरोहर के रूप में लोक जीवन में समरस हो गई है । इसको देखते हुए कह सकते हैं कि लोक की विशेषता इसकी अपरिवर्तनशीलता है । इसका कारण इसके बनाने म सरलता का होना ही है । यह घर में उपलब्ध समान से आसानी से बन जाती है टहनी में रूई, ब्रश का काम करती है । चांवल, गेहूँ का आटा, गेरू, काजल, हल्दी, पीली मिट्टी, छुई मिट्टी, फल व पत्तियों के रंग, गोबर व मिट्टी इन्हीं सरल सुलभ वस्तुओं से इसका निर्माण होता है ।[४] यही कारण है कि प्रारंभ से ही यह कला पल्लवित एवं फ्लती रही है । लोक में व्याप्त धार्मिक भावनाओं ने इसे सरलता और सम्मान प्रदान किया । यही कारण है कि आज भी इसका और अधिक मनोहारी रूप त्यौहारों, उत्सवों व विभिन्न संस्कारों पर घर की महिलाओं द्धारा धरती, दीवार, पट्टी, घर के द्धारा पर उपयुक्त भावना से चित्रित होता है । यहाँ तक कि मनुष्य अपने शरीर पर भी इसे धार्मिक भावना के साथ अंकित करते हैं । जैसे महेंदी, गोदने, महावर (महुर), बिन्दी आदि धार्मिक व सौन्दर्य दोनों ही भावनाओं के प्रतीक के रूप में प्रचलित है ।

लोक चित्र भारतीय समाज में विभिन्न रीति–रिवाजों एवं परम्पराओं के अनुरूप निर्मित होते रहे हैं, जिनमें भित्ति–चित्रण अथवा अलंकरण, शरीर अलंकरण, कपड़ा, कागज, लकड़ी, मृणामद शिल्प आदि के अलंकरण के रूप में स्थानीय उपलब्ध सामग्री तथा विभिन्न रंगों की मिट्टी, खनिज, वनस्पति, गोबर, लकड़ी, वस्त्र एवं इसी प्रकार की वस्तुओं की सुलभता ही लोक चित्रण को आधार प्रदान करती है ।

घने जंगलों में जहाँ पक्के मकानों का अभाव होता है, वहां झोपड़ियों की दीवालों एवं शरीर पर अलंकरण अधिक प्रचलित होता है । जहां अपेक्षाकृत सुसंस्कृत परिवार होते हैं, वहाँ भित्ति अलंकरण कागज एवं वस्तुओं आदि पर चित्रण किया जाता है । यथा मालवा के चित्रावण एवं माण्डना, राजस्थान एवं बुन्देलखण्ड के सांझा, अहोर–अष्टमी, करवा–चौथ या नाग–पंचमी आदि अपेक्षाकृत कम सुस्कृत या आदिम चित्रों, शरीर के अलंकरण या गुदना एवं शरीर पर लाल सफद खनिज मिट्टी से शरीर को सजाना, विभिन्न प्रकार की वनस्पति एवं जानवरों के सींग, पंख आदि को सजाने की प्रथायें अधिक प्रचलित है ।

सामान्यत: यह पाया गया है कि अपेक्षाकृत सुसंस्कृत समाज में लोककला के प्रति एवं स्वरूप समान होते हैं । जैसे मेंहदी रचाना, सम्पूर्ण राजस्थान, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश एवं देश के

अनेक भागों में भाईदूज, राखी, विवाह, उत्सव, सावन के अनेक पर्वो पर हथेलियों पर लगाते हैं। इसी प्रकार विवाह के समय घरों को अलंकृत करना, मंडप को सजाना प्रवेश द्धार पर आलेखन करना और मंडप के मड़वा आदि को गेरू, हल्दी, महावर, रंग आदि से अलंकृत करना अथवा थापा (हाथ) देने की प्रवृत्ति सहज ही देखने को मिलती है। ये प्रथायें पढ़े–लिखे अथवा कम पढ़े लिखे समाज में लोक प्रवृत्ति के रूप में सर्वत्र देखी जा सकती है।

आदिवासी अथवा आदिम संस्कृति में चित्रण की परम्परा उतनी सशक्त नहीं है जितनी लोहे, लकड़ी अथवा मृणमय शिल्पों के प्रतीकों के रूप में एवं आर्थिक और बौद्धिक अभावों के कारण अथवा अन्धविश्वास एवं कुरीतियों के कारण ये सूक्ष्म रूप अथवा प्रतीकात्मक रूप से वे अपनी प्रथाओं का निर्वाह करते हैं।

'आदिम' कला ही अधिक विकसित समाजों में पहुँच कर लोककला कहलायी।[५] लोककला में मानव अपने विकास की स्थिति में अपनी संस्कृति के दर्शन कर लेता है। जिसमें धर्म, परम्परा, विश्वास, आदिकालीन जादू–टोना आदि सांकेतिक रूप प्रयुक्त करने के लिए मानव मन को प्रेरित करते रहने की शक्ति निहित है।

आज का सभ्य मानव उन्नति की ऊँची सीढ़ि चढ़ने के बाद भी इससे अछूता नहीं है। मनुष्य किसी प्रेरणा से जब इसकी रचना करता है वह अपने विश्वास अथवा अन्धविश्वास की परिणित श्रद्धा और प्रेम की अभिव्यक्ति को साकार करता है। विशुद्ध यही भावना इसके पीछे ह न कि अन्धविश्वास और अज्ञान। इस प्रकार इनका महत्व कम न होकर और भी बढ़ जाता है।[६]

लोक कला विशुद्ध लोक समर्पण की भावना से प्रेरित होती है जिसमें रचनाकार अपने नाम तक को उल्लेख नहीं करता है। यह शुद्ध भावनापूर्ण अभिव्यक्ति है। लोक कला प्रचलित रीति–रिवाजों और विश्वास से संबंधित है। डॉ. झा और डॉ. सत्येन्द्र ने इसे परम्परागत कर्म से संबंधित कहा है, जिसमें लोक मानस की झाँकी प्रकट होती है। लोक कला जन मानस की भावनाओं की प्रतीक रही है। यह परम्परागत प्राप्त कला का रूप है जो जन साधारण की सामान्य संपत्ति है, किसी वर्ग विशेष का नहीं।[७]

ग्रामीण नगरवासियों की अपेक्षा अधिक सरल और सीधे–साधे होते हैं। अत: लोक कला की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार लोक कला को ग्राम में अधिक अनुकूल वातावरण मिलता है। ग्रामीणों का जीवन आडम्बरों से दूर तथा धार्मिक होता है। अत: वे कला की मान्यताओं को सदा रूढ़िगत रूप से मानते चले आये हैं, परन्तु कला क्षेत्र ग्रामों तक ही सीमित नहीं है।

अर्थात् लोककला में तकनीक कम और सरल होती है, इसके लिए किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं पड़ती है और इसमें होने वाली त्रुटियां क्षम्य होती है। भावनाओं को प्राबल्य होने के कारण शैली की कमजोरी की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। लोक–कलाकार किसी

व्यक्ति को प्रसन्न करने, यश, उपदेश, प्रशंसा अथवा धन प्राप्ति के उद्देश्य से कला की सृष्टि नहीं करता है। इसकी अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से स्वतंत्र तथा स्वाभाविक एवं आस्था से पूर्ण रहती है। यह तो जन जीवन से उत्पन्न जनता की भावनाओं के साथ सुरक्षित जनता की वस्तु है।[८] अत: सतत् विकासशील रहती है।

भूमि–चित्रण की रस धारा ने लोक–जीवन में ऐसे रस का संचार किया जिसका आस्वादन लोक कलाकार तो करता ही है, साथ–साथ दूसरे लोग भी देखकर आनन्दानुभूति करते हैं। लोककला की यह शैली आदि मानव के मन की वह अभिव्यक्ति है जो उसके अन्तरमन में गहराई से पैठ जमाये हुए संस्कारगत् हो। उसके अपने कोमल हाथों से तीज–त्यौहार, व्रत एवं पर्वो के अवसर पर जन मांगल्य की भावना से अथवा कभी–कभी अपनी धार्मिक मान्यताओं से प्रेरित होकर तो कभी भय, जादू, टोने–टोटके आदि से निमित्त भूमि पर चित्रण (अलंकरण) द्वारा प्रारंभ की गई।

भूमि चित्र की कला, प्रतीकों आदि के माध्यम से अभिव्यक्ति पार कर हमारे सामने आती है जो आधुनिक कला को तड़क–भड़क से कोसों दूर है। इसकी अपनी अलग शैली है, जिसके कारण आज भी ये अपनी अलग पहचान बनाये हुए हैं। इस शैली में कृत्रिमता लेश मात्र भी नहीं है, वरन सरलता और सरसता एवं जन सामान्य के हृदय की नैसर्गिक छवि है, जिससे एक अलग चित्रमय संसार की रचना होतो है। लोककला की इस 'भूमि–चित्रण' शैली को अलग रूप की दृष्टि से देखें तो पता चलता है कि इसने अपनी मौलिकता के कारण अपनी एक निश्चित पहचान बनाई है। इसका अपना रूप और निश्चित आकार तथा वर्ण होता है। साधारणतया वस्तु की आकृति को ही रूप कहते हैं।[९]

संस्कारगत् यह कला प्रतीकों आदि के माध्यम से हमारे सामने आती है, जो परम्परानुसार होकर माँ–पुत्री को और सास द्वारा अपनी पुत्र–वधू को दी जाती है। कभी कुछ बच्चे जिज्ञासावश इसे देखा–देखी में ही सीख लेते हैं। इस तरह परम्परा का विकास होता रहा है।

भारत के विभिन्न अंचलों में इन्हें अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है, जैसे राजस्थान और मालवा में मांडना, उत्तरप्रदेश, बुन्देलखण्ड एवं उत्तर भारत में अनेक क्षेत्रो तक इसे ..चौक बनाना.., बंगाल में 'अल्पना' और महाराष्ट्र में 'रंगोली' के नाम से जाना जाता है। आदिवासी अंचल में इसका कोई विशेष नाम नहीं होता है, फिर भी इसे चौक बनाना, चौक पूरना, डिजाईन बनाना, नक्शा उतारना, फ्ल बनाना आदि नामों से पहचाना जाता है। उत्तराखण्ड में ऐपड़ एवं 'चौक–पूरना' नाम से जाना जाता है।

भूमि पर लोकचित्रण की यह परम्परा देश के विभिन्न लोक अंचलों में देखी जा सकती है। इनका मुख्य उद्देश्य घरों को सजाना, आगंतुक का स्वागत करना, सुख–समृद्धि, परिवार की मंगल कामना और देवी–देवताओं का आवाहन करना होता है।

भूमि चित्रण भूमि अलंकरण का ही एक रूप है, जिसमें त्रिभुज, चतुर्भुज, समानान्तर रेखाओं, बिन्दुओं के माध्यम से विकसित किया जाता है। इनमें फ्ल, पत्ती, स्वास्तिक चौक, मंच कोण, षटकोण, वृत्त, त्रिभुज, वर्ग आदि के आधार पर रेखांकन किया जाता है। भूमि–चित्रण अलंकरण का यह कार्य घर की नवविवाहिता स्त्रियों, लड़कियों अथवा बड़ी–बूढ़ी स्त्रियाँ सभो करते हैं।

शकुन–अपशकुन, शुभ–अशुभ की अवधारणायें यहाँ लोक मानस में सर्वथा व्याप्त है। इसके अतिरिक्त जब भी सामान्य जनव्रत, त्यौहारों में भूमि चित्रण का कार्य करता है या अलंकरण बनाकर अपने घर मकान को सजाता है, पर उसके अन्तर्मन में निहित धार्मिक भावनाओं का परिमार्जन ही है। शुभ अथवा अशुभ की जो धारणा मुख्यत: स्त्रियों के मानस में बसी होती है, वही इस भूमि चित्रण की प्रेरणा स्त्रोत है। इन सब का आध्यात्मिक अथवा यंत्रात्मक महत्व भी रहा हो लेकिन इसका भावनात्मक महत्व सर्वाधिक है।

अलंकरण बनाने और भूमि चित्रण का मुख्य उद्देश्य धार्मिक परम्पराओं और भावनाओं का परिमार्जन तथा गृह–सज्जा एवं पवित्रता रखना होता है, जबकि यन्त्रात्मक चित्रण में देवताओं का आवास माना जाता है। इसी कारण इतने श्रम और रूचि के साथ घर के प्रवेश द्वार और आंगन में उत्कीर्ण किये जाते हैं।

शहरी जन–जीवन भी लोक अवधारणाओं से पोषित इन भूमि चित्रण की परम्पराओं से अपने को अलग नहीं रख पाता है। नगरीय जीवन में इसकी छाप तीज–त्यौहारों, व्रत, संस्कारों, मांगलिक कार्यों में सर्वत्र देखने को मिलती है। ग्राम्य अंचल के लोक जीवन में व्याप्त इन धार्मिक प्रथाओं से परिपूर्ण भूमिचित्रण एवं अलंकरण के महत्व को अपने तादात्म्य कर उनको आत्मसात करता हुआ एक नई परम्परा को जन्म देता है।

सन्दर्भ ग्रंथ :

1) एज्युकेशनल सिग्नीफिकेशन्स ऑफ इंडिजिन्स फोक आर्ट, पृ. २७
2) बसंत निर्गुणे, ''लोक संस्कृति'', पृ. २०
3) बसंत निर्गुणे, ''लोक संस्कृति'', पृ. २०–२१
4) पुष्पादेवी, ''मनोरमा'' २६ फरवरी, १९५९, पृ. २३
5) डॉ. गिरिराज किशोर अग्रवाल, ''कला निबन्ध'', पृ. १२५

6) डॉ. स्वामी प्यारी आनन्द, ''अवध की लोक चित्रकला'' (अप्रकाशित शोध ग्रन्थ), पृ.६८
7) रियाल एलर्स, ''डी. फिलासफो ऑफ आर्ट हिस्ट्री'', पृ. २९०
8) शास्त्री ''राजराम'' , लोक साहित्य, पृ. २७
9) शर्मा अग्रवाल, आर.ए. ''रूपप्रद कला के मूलाधार'', पृ. २२

ISARA INSTITUTE OF MANAGEMENT & PROFESSIONAL STUDIES

RESEARCH GATEWAY

AROGYAM ONLINE

PARIVARTAN PSYCHOLOGY CENTER

भारतीय भाषा, शिक्षा, साहित्य एवं शोध

ISSN 2321 – 9726

WWW.BHARTIYASHODH.COM

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF MANAGEMENT SCIENCE & TECHNOLOGY

ISSN – 2250 – 1959 (0) 2348 – 9367 (P)

WWW.IRJMST.COM

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF COMMERCE, ARTS AND SCIENCE

ISSN 2319 – 9202

WWW.CASIRJ.COM

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF MANAGEMENT SOCIOLOGY & HUMANITIES

ISSN 2277 – 9809 (0) 2348 - 9359 (P)

WWW.IRJMSH.COM

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF SCIENCE ENGINEERING AND TECHNOLOGY

ISSN 2454-3195 (online)

WWW.RJSET.COM

INTEGRATED RESEARCH JOURNAL OF MANAGEMENT, SCIENCE AND INNOVATION

ISSN 2582-5445

WWW.IRJMSI.COM

JOURNAL OF LEGAL STUDIES,POLITICS AND ECONOMICS RESEARCH

WWW.JLPER.COM